

## Chapter छब्बीस

### ऐल-गीत

इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि अनुपयुक्त संगति भक्ति-पद के लिए कितनी घातक है और सन्त पुरुषों की संगति किस तरह भक्ति के उच्च पद तक ले जाने वाली है।

जीव को मानव शरार मिला है, जो भगवान् को प्राप्त कराने में लाभप्रद है और जिसने इसे भगवान् के भक्ति-कार्यों में लगा दिया है, वह आध्यात्मिक आनन्दस्वरूप भगवान् की अनुभूति करने में समर्थ है। भगवान् के प्रति समर्पित ऐसा व्यक्ति माया के प्रभाव से छूट जाता है और मोह से उत्पन्न इस जगत में रहते हुए भी वह इससे पूरी तरह अछूता रहता है। किन्तु वे आत्माएँ, जो माया द्वारा बद्ध हैं, अपने उदर तथा जननांगों की पूर्ति में ही लगी रहती हैं। वे अशुद्ध होती हैं और जो कोई व्यक्ति इनकी संगति करता है, वह अज्ञान के गर्त में जा गिरता है।

सम्राट पुरुरवा, जो उर्वशी अप्सरा की संगति से मोहित हो चुका था, उससे विलग होने पर विरक्त बन गया। उसने नारी संगति के प्रति अपनी घृणा को व्यक्त करते हुए एक गीत गाया। उसने बतलाया कि जो पुरुष स्त्री-शरीर से, जो कि चर्म, मांस, रक्त, मज्जा, अस्थि आदि से निर्मित एक ढेला है, लिप्त रहते हैं, वे कीड़ों से भिन्न नहीं हैं। जिस व्यक्ति का मन किसी स्त्री द्वारा हर लिया जाय, उसकी शिक्षा, तपस्या, त्याग, वेदानुभूति, एकान्तवास तथा मौन का क्या महत्त्व है? विद्वान् व्यक्तियों को चाहिए कि

कामादि छः मानसिक शत्रुओं पर कभी विश्वास न करें और स्त्रियों अथवा स्त्रियों द्वारा नियंत्रित पुरुषों की संगति करने से बचें। इन तथ्यों को घोषित करने के बाद राजा पुरुरवा संसार के मोह से मुक्त हो गया और उसने अन्तर में निवास करने वाले परमात्मा का साक्षात्कार किया।

निष्कर्ष यह निकला कि बुद्धिमान व्यक्ति को बुरी संगति त्याग देनी चाहिए और सन्त पुरुषों की संगति के प्रति आकृष्ट होना चाहिए। ये सन्त भक्त अपने दिव्य उपदेशों से मनुष्य के मन के मिथ्या लगावों को तोड़ सकते हैं। असली सन्त तो सदैव मुक्त होते हैं और भगवान् की भक्ति करते हैं। उनकी संगति में भगवान् के विषय में निरन्तर चर्चाएँ चलती रहती हैं जिनकी सेवा करने से आत्मा के सारे भौतिक पाप दूर हो जाते हैं और शुद्ध भक्ति प्राप्त होती है। और जब उन भगवान् की भक्ति प्राप्त हो जाती है, जो असीम गुणों के आदि सागर है, तो फिर पाने के लिए रह ही क्या जाता है ?

श्रीभगवानुवाच

मल्लक्षणमिमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः ।  
आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; मत्-लक्षणम्—जिसमें मेरा साक्षात्कार हो सकता है; इमम्—यह; कायम्—मानव शरीर; लब्ध्वा—प्राप्त करके; मत्-धर्मे—मेरी भक्ति में; आस्थितः—स्थित; आनन्दम्—शुद्ध आनन्द रूप; परम-आत्मानम्—परमात्मा को; आत्म-स्थम्—हृदय के भीतर स्थित; समुपैति—प्राप्त करता है; माम्—मुझको।

भगवान् ने कहा : इस मनुष्य जीवन को, जो मनुष्य को मेरा साक्षात्कार करने का अवसर प्रदान करता है, पाकर और मेरी भक्ति में स्थित होकर, मनुष्य मुझे प्राप्त कर सकता है, जो कि समस्त आनन्द का आगार तथा हर जीव के हृदय में वास करने वाला परमात्मा स्वरूप है।

तात्पर्य : बुरी संगति से मुक्त जीव भी आत्म-साक्षात्कार से नीचे गिर सकते हैं। भौतिक जगत में स्त्रियों की संगति विशेष रूप से घातक है; अतएव इस अध्याय में ऐसे पतन से रोकने के लिए ही ऐल-गीत कहा गया है। मनुष्य सन्त पुरुषों की संगति करके यौन-आकर्षण से बच सकता है क्योंकि वे असली आध्यात्मिक बुद्धि जगाने वाले हैं। इसलिए भगवान् कृष्ण उद्धव से पुरुरवा का अद्भुत गीत कहेंगे जिसे ऐल-गीत भी कहा जाता है।

गुणमय्या जीवयोन्या विमुक्तो ज्ञाननिष्ठया ।

गुणेषु मायामात्रेषु दृश्यमानेष्ववस्तुतः ।  
वर्तमानोऽपि न पुमान्युज्यतेऽवस्तुभिर्गुणैः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

गुण-मय्या—प्रकृति के गुणों पर आधारित; जीव-योन्या—भौतिक जीवन के कारण से, झूठी पहचान; विमुक्तः—पूर्णतया मुक्त व्यक्ति; ज्ञान—दिव्य ज्ञान में; निष्ठया—पूरी तरह स्थिर होने से; गुणेषु—गुणों के फलों में से; माया-मात्रेषु—जो केवल मोह है; दृश्यमानेषु—आँखों के सामने प्रकट; अवस्तुतः—यद्यपि सत्य नहीं हैं; वर्तमानः—रहते हुए; अपि—यद्यपि; न—नहीं; पुमान्—वह व्यक्ति; युज्यते—फँस जाता है; अवस्तुभिः—असत्य; गुणैः—गुणों की अभिव्यक्ति से।

दिव्य ज्ञान में स्थिर व्यक्ति प्रकृति के गुणों के फलों से अपनी झूठी पहचान त्याग कर, बद्ध जीवन से मुक्त हो जाता है। इन फलों को मात्र मोह समझ कर उन्हीं के बीच निरन्तर रहते हुए वह प्रकृति के गुणों में फँसने से अपने को बचाता है। चूँकि गुण तथा उनके फल सत्य नहीं होते, अतएव वह उन्हें स्वीकार नहीं करता।

तात्पर्य : प्रकृति के तीनों गुण भौतिक शरीरों, स्थानों, परिवारों, देशों, भोजनों, खेलों, युद्ध, शान्ति आदि के रूप में प्रकट होते हैं। दूसरे शब्दों में, इस जगत में दिखने वाली हर वस्तु प्रकृति के गुणों से बनी है। मुक्तात्मा भौतिक शक्ति के सागर में रहते हुए भी, हर वस्तु को भगवान् की सम्पत्ति मानता है, जिससे वह उनमें फँसता नहीं। यद्यपि माया ऐसे मुक्तात्मा को भी चोर बनने के लिए लालच देती है—इन्द्रियतृप्ति के लिए भगवान् की सम्पत्ति की चोरी करने के लिए ललचाती है, किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति माया के फेंके चारे को खाता नहीं। वह ईमानदार तथा कृष्णभावनामृत में शुद्ध बना रहता है। दूसरे शब्दों में, वह यह विश्वास नहीं करता कि ब्रह्माण्ड की कोई भी वस्तु, विशेष रूप से स्त्री का मोहमय रूप, उसकी इन्द्रियतृप्ति की निजी सम्पत्ति बन सकती है।

सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित् ।  
तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धवत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सङ्गम्—साथ; न कुर्यात्—नहीं करे; असताम्—भौतिकतावादी लोगों का; शिश्न—जननांग; उदर—तथा पेट; तृपाम्—तृप्ति में लगे हुए; क्वचित्—किसी भी समय; तस्य—ऐसे व्यक्ति का; अनुगः—अनुयायी; तमसि अन्धे—अँधेरे गड्ढे में; पतति—गिर पड़ता है; अन्ध-अनुग—अंधे मनुष्य के पीछे चलने वाला; अन्ध-वत्—दूसरे अंधे व्यक्ति की ही तरह।

मनुष्य को कभी ऐसे भौतिकतावादियों की संगति नहीं करनी चाहिए जो अपने जननांग तथा उदर की तृप्ति में लगे रहते हों। उनका अनुसरण करने पर मनुष्य अंधकार के गहरे गड्ढे में गिर जाता है, जिस तरह एक अंधे व्यक्ति द्वारा दूसरे अंधे व्यक्ति का अनुगमन करने पर होता है।

ऐलः सम्राडिमां गाथामगायत बृहच्छ्रवाः ।  
उर्वशीविरहान्मुह्यन्निर्विण्णः शोकसंयमे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

ऐलः—राजा पुरुरवा; सम्राट्—महान् राजा; इमाम्—इस; गाथाम्—गीत को; अगायत—गाया; बृहत्—विस्तृत; श्रवाः—यश वाला; उर्वशी-विरहात्—उर्वशी से वियोग के कारण; मुह्यन्—मोहित होकर; निर्विण्णः—विरक्त-सा; शोक—शोक; संयमे—अन्ततः अपने वश में होकर।

निम्नलिखित गीत सुप्रसिद्ध सम्राट पुरुरवा द्वारा गाया गया था। अपनी पत्नी उर्वशी से विलग होने पर सर्वप्रथम वह संभ्रमित हुआ किन्तु अपने शोक को वश में करने से वह विरक्ति का अनुभव करने लगा।

तात्पर्य : यह कथा श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध में भी वर्णित है। ऐल अर्थात् पुरुरवा महान् राजा था जिसका यश दूर-दूर तक फैला था। जब वह उर्वशी से विलग हुआ, तो सर्वप्रथम उसे महान् संभ्रान्ति हुई किन्तु कुरुक्षेत्र में थोड़ी देर के लिए उससे मिलने के बाद, उसने गन्धर्वों द्वारा प्रदत्त यज्ञ-अग्नि से देवताओं की पूजा की। इससे वह उस लोक में प्रवेश कर सका जिसमें उर्वशी रहती थी।

त्यक्त्वात्मानं व्रजन्तीं तां नग्न उन्मत्तवन्नृपः ।  
विलपन्नन्वगाज्जाये घोरे तिष्ठेति विक्लवः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

त्यक्त्वा—छोड़ कर; आत्मानम्—उसे; व्रजन्तीम्—दूर जाती हुई; ताम्—उसको; नग्नः—नंगा; उन्मत्त-वत्—पागल व्यक्ति की तरह; नृपः—राजा; विलपन्—विलाप करता; अन्वगात्—पीछे पीछे गया; जाये—हे मेरी पत्नी; घोरे—हे निष्ठुर स्त्री; तिष्ठ—रुको; इति—इस प्रकार कहते हुए; विक्लवः—दुख से अभिभूत।

जब वह उसको छोड़ रही थी, तो वह नंगा होते हुए भी, उसके पीछे पागल की तरह दौड़ने लगा और अत्यन्त दुख से चिल्लाने लगा, “मेरी पत्नी, अरे निष्ठुर नारी! जरा ठहर।”

तात्पर्य : जब राजा की प्रिय पत्नी उसे छोड़ रही थी, तो राजा आघात से चिल्ला रहा था, “ओ मेरी पत्नी! क्षण-भर सोचो तो। जरा रुको! अरे निष्ठुर नारी! क्या तुम रुक भी नहीं सकती? हम क्षण-भर बातें क्यों नहीं कर लेते? तुम मुझे क्यों मार रही हो?” इस तरह विलाप करता हुआ वह उसका पीछा कर रहा था।

कामानतृप्तोऽनुजुषन्क्षुल्लकान्वर्षयामिनीः ।  
न वेद यान्तीर्नायान्तीरुर्वश्याकृष्टचेतनः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

कामान्—विषय-भोग की इच्छा; अतृप्तः—अपूर्ण; अनुजुषन्—तृप्त करते हुए; क्षुल्लकान्—क्षुद्र; वर्ष—अनेक वर्षों की; यामिनीः—रातें; न वेद—नहीं जाना; यान्तीः—जाते हुए; न—न तो; आयान्तीः—आते हुए; उर्वशी—उर्वशी द्वारा; आकृष्ट—आकर्षित; चेतनः—मन।

यद्यपि पुरुरवा ने वर्षों तक सायंकाल की घड़ियों में यौन आनन्द भोगा था, फिर भी ऐसे तुच्छ भोग से वह तृप्त नहीं हुआ था। उसका मन उर्वशी के प्रति इतना आकृष्ट था कि वह यह भी देख नहीं पाया कि रातें किस तरह आती और चली जाती हैं।

तात्पर्य : यह श्लोक उर्वशी के साथ पुरुरवा के भौतिकतावादी अनुभव को बतलाने वाला है।

ऐल उवाच

अहो मे मोहविस्तारः कामकश्मलचेतसः ।

देव्या गृहीतकण्ठस्य नायुःखण्डा इमे स्मृताः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ऐलः उवाच—राजा पुरुरवा ने कहा; अहो—हाय; मे—मेरा; मोह—मोह का; विस्तारः—फैलाव; काम—काम द्वारा; कश्मल—दूषित; चेतसः—चेतना; देव्या—इस देवी द्वारा; गृहीत—पकड़ी गई; कण्ठस्य—जिसकी गर्दन; न—नहीं; आयुः—मेरी आयु के; खण्डाः—विभाग, टुकड़े; इमे—ये; स्मृताः—देखे गये।

राजा ऐल ने कहा : हाय! मेरे मोह के विस्तार को तो देखो! यह देवी मेरा आलिंगन करती थी और मेरी गर्दन अपनी मुट्टी में किये रहती थी। मेरा हृदय काम-वासना से इतना दूषित था कि मुझे इसका ध्यान ही न रहा कि मेरा जीवन किस तरह बीत रहा है।

नाहं वेदाभिनिर्मुक्तः सूर्यो वाभ्युदितोऽमुया ।

मूषितो वर्षपूगानां बताहानि गतान्युत ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; वेद—जानता हूँ; अभिनिर्मुक्तः—अस्त हुआ; सूर्यः—सूर्य; वा—अथवा; अभ्युदितः—उदय हुआ; अमुया—उसके द्वारा; मूषितः—धोखा दिया गया; वर्ष—वर्षों; पूगानाम्—अनेक; बत—हाय; अहानि—दिन; गतानि—बीते हुए; उत—निश्चय ही।

इस स्त्री ने मुझे इतना ठगा कि मैं उदय होते अथवा अस्त होते सूर्य को भी देख नहीं सका। हाय! मैं इतने वर्षों से व्यर्थ ही अपने दिन गँवाता रहा।

तात्पर्य : उस देवी के प्रति आसक्ति के कारण पुरुरवा अपनी भगवद्भक्ति भूल गया और उस सुन्दर तरुणी को प्रसन्न करने में ही लगा रहता था। इस तरह अपना अमूल्य समय व्यर्थ गँवाने के कारण, बाद में वह शोक करने लगा। जो लोग कृष्णभावनाभावित होते हैं वे अपना हर क्षण भगवान् की सेवा में लगाते हैं।

अहो मे आत्मसम्मोहो येनात्मा योषितां कृतः ।  
क्रीडामृगश्चक्रवर्ती नरदेवशिखामणिः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; मे—मेरा; आत्म—मेरा; सम्मोहः—पूर्ण मोह; येन—जिससे; आत्मा—मेरा शरीर; योषिताम्—स्त्रियों के; कृतः—  
हो गया; क्रीडा-मृगः—खिलौना; चक्रवर्ती—शक्तिशाली सम्राट; नरदेव—राजाओं का; शिखा-मणिः—मुकुट का मणि ।

हाय! यद्यपि मैं शक्तिशाली सम्राट तथा इस पृथ्वी पर समस्त राजाओं का मुकुटमणि माना  
जाता हूँ, किन्तु देखो न! मोह ने मुझे स्त्रियों के हाथों का खिलौने जैसा पशु बना दिया है ।

तात्पर्य : चूँकि राजा का शरीर स्त्रियों की ऊपरी इच्छाओं को तुष्ट करने में पूरी तरह लगा हुआ  
था, इसलिए उसका शरीर उन स्त्रियों के हाथों के खिलौने जैसा पशु था ।

सपरिच्छदमात्मानं हित्वा तृणमिवेश्वरम् ।  
यान्तीं स्त्रियं चान्वगमं नग्न उन्मत्तवद्भुदन् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

स-परिच्छदम्—मेरे राज्य तथा सारी साज-सामग्री सहित; आत्मानम्—अपने आप; हित्वा—त्याग कर; तृणम्—घास को;  
इव—मानो; ईश्वरम्—शक्तिमान प्रभु; यान्तीम्—जाते हुए; स्त्रियम्—स्त्री को; च—तथा; अन्वगमन्—मैं पीछा करने लगा;  
नग्नः—नंगा; उन्मत्त-वत्—पागल जैसा; रुदन्—चिल्लाते हुए ।

यद्यपि मैं प्रचुर ऐश्वर्य से युक्त शक्तिशाली राजा था, किन्तु उस स्त्री ने मुझे त्याग दिया मानो  
मैं कोई घास की तुच्छ पत्ती होऊँ। फिर भी मैं, नग्न तथा लज्जारहित पागल व्यक्ति की तरह  
चिल्लाते हुए, उसका पीछा करता रहा ।

कुतस्तस्यानुभावः स्यात्तेज ईशत्वमेव वा ।  
योऽन्वगच्छं स्त्रियं यान्तीं खरवत्पादताडितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

कुतः—कहाँ; तस्य—उस व्यक्ति का ( मेरा ); अनुभावः—प्रभाव; स्यात्—है; तेजः—बल; ईशत्वम्—स्वामित्व; एव—  
निस्सन्देह; वा—अथवा; यः—जो; अन्वगच्छम्—पीछे पीछे दौड़ा; स्त्रियम्—यह स्त्री; यान्तीम्—जाते हुए; खर-वत्—गधे की  
तरह; पाद—पाँव से; ताडितः—दण्डित ।

कहाँ है मेरा तथाकथित अत्यधिक प्रभाव, बल तथा स्वामित्व? जिस स्त्री ने मुझे पहले ही  
छोड़ दिया था उसके पीछे मैं उसी तरह भागा जा रहा हूँ जैसे कि कोई गधा जिसके मुँह पर  
उसकी गधी दुलत्ती झाड़ती है ।

किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा ।

किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या लाभ; विद्यया—ज्ञान का; किम्—क्या; तपसा—तपस्याएँ; किम्—क्या; त्यागेन—त्याग का; श्रुतेन—श्रुतियों का; वा—अथवा; किम्—क्या; विविक्तेन—एकान्त रहने से; मौनेन—मौन रहने से; स्त्रीभिः—स्त्रियों से; यस्य—जिसका; मनः—मन; हृतम्—हर लिया गया हो।

ऊँची शिक्षा या तपस्या तथा त्याग से क्या लाभ? इसी तरह धार्मिक शास्त्रों का अध्ययन करने, एकान्त तथा मौन होकर रहने और फिर स्त्री द्वारा किसी का मन चुराये जाने से क्या लाभ?

तात्पर्य : उपर्युक्त सारी विधियाँ व्यर्थ होती है यदि किसी मनुष्य का हृदय तथा मन क्षुद्र स्त्री द्वारा चुरा लिया जाय। जो व्यक्ति स्त्री की संगति के लिए लालायित रहता है, वह निश्चय ही अपनी आध्यात्मिक प्रगति को रोक देता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि यदि कोई वृन्दावन की मुक्त गोपियों की पूजा करता है जिन्होंने श्रीकृष्ण को अपने जार रूप में स्वीकार किया था वह मन के कार्यकलापों को काम से दूषित होने से बचा सकता है।

स्वार्थस्याकोविदं धिङ्मां मूर्खं पण्डितमानिनम् ।

योऽहमीश्वरतां प्राप्य स्त्रीभिर्गोखरवज्जितः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

स्व-अर्थस्य—अपना हित; अकोविदम्—न जानने वाला; धिक्—धिक्कार है; माम्—मुझसे; मूर्खम्—मूर्ख; पण्डित-मानिनम्—अपने को बड़ा भारी विद्वान मानते हुए; यः—जो; अहम्—मैं; ईश्वरताम्—प्रभुता का पद; प्राप्य—पाकर; स्त्रीभिः—स्त्रियों द्वारा; गो-खर-वत्—बैलों या गधे जैसा; जितः—जीता गया।

धिक्कार है मुझे! मैं इतना बड़ा मूर्ख हूँ कि मैंने यह भी नहीं जाना कि मेरे लिए क्या अच्छा है। मैंने तो उद्धत भाव से यह सोचा था कि मैं अत्यधिक बुद्धिमान हूँ। यद्यपि मुझे स्वामी का उच्च पद प्राप्त हो गया, किन्तु मैं स्त्रियों से अपने को परास्त करवाता रहा मानो मैं कोई बैल या गधा होऊँ।

तात्पर्य : इस जगत के सारे मूर्ख अपने को परम ज्ञानी पंडित मानते हैं, भले ही इन्द्रियतृप्ति से उन्मत्त और स्त्रियों की संगति के लिए पागल होकर वे बैलों और गधों जैसे हो जाते हैं। सन्त स्वभाव गुरु की कृपा से यह कामुक इच्छा धीरे धीरे हटाई जा सकती है और भयानक घृणित भौतिक इन्द्रियतृप्ति को समझा जा सकता है। इस श्लोक में राजा पुरुरवा कृष्णभावनामृत में अपनी चेतना

सँभाल रहा है ।

सेवतो वर्षपूगान्मे उर्वश्या अधरासवम् ।  
न तृप्यत्यात्मभूः कामो वह्निराहुतिभिर्यथा ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

सेवतः—सेवा करता हुआ; वर्ष-पूगान्—अनेक वर्षों तक; मे—मेरा; उर्वश्याः—उर्वशी का; अधर—होठों का; आसवम्—अमृत; न तृप्यति—तृप्त नहीं होता; आत्म-भूः—मन से उत्पन्न; कामः—काम-वासना; वह्निः—आग; आहुतिभिः—आहुतियों से; यथा—तिस तरह ।

यद्यपि मैं उर्वशी के होठों के तथाकथित अमृत का सेवन वर्षों तक कर चुका था किन्तु मेरी काम-वासनाएँ मेरे हृदय में बारम्बार उठती रहीं और कभी तृप्त नहीं हुई जिस तरह घी की आहुति डालने पर, अग्नि कभी भी बुझाई नहीं जा सकती ।

पुंश्चल्यापहतं चित्तं को न्वन्यो मोचितुं प्रभुः ।  
आत्मारामेश्वरमृते भगवन्तमधोक्षजम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

पुंश्चल्य—वेश्या द्वारा; अपहतम्—चुराया गया; चित्तम्—मन; कः—कौन; नु—निस्सन्देह; अन्यः—अन्य व्यक्ति; मोचितुम्—मुक्त करने के लिए; प्रभुः—सक्षम; आत्म-आराम—आत्म-तृप्त साधुओं का; ईश्वरम्—भगवान्; ऋते—के अतिरिक्त; भगवन्तम्—भगवान्; अधोक्षजम्—इन्द्रियों की परिधि से परे रहने वाला ।

जो भौतिक अनुभूति के परे है और आत्माराम मुनियों के स्वामी है, उन भगवान् के अतिरिक्त मेरी इस चेतना को जो वेश्या के द्वारा चुराई जा चुकी है, भला और कौन बचा सकता है ?

बोधितस्यापि देव्या मे सूक्तवाक्येन दुर्मतेः ।  
मनोगतो महामोहो नापयात्यजितात्मनः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

बोधितस्य—सूचना-प्राप्त; अपि—भी; देव्या—देवी उर्वशी द्वारा; मे—मेरा; सु-उक्त—सुभाषित; वाक्येन—शब्दों द्वारा; दुर्मतेः—मन्द बुद्धि वाला; मनः-गतः—मन के भीतर; महा-मोहः—महान् संशय; न अपयाति—नहीं रुकता; अजित-आत्मनः—अपनी इन्द्रियों को वश में करने में असफल ।

चूँकि मैंने अपनी बुद्धि को मन्द बनने दिया और चूँकि मैं अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर सका, इसलिए मेरे मन का महान् मोह मिटा नहीं यद्यपि उर्वशी ने सुन्दर वचनों द्वारा मुझे अच्छी सलाह दी थी ।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध में वर्णन आया है कि देवी उर्वशी ने पुरुरवा से यह स्पष्ट



कह दिया था कि वह न तो कभी स्त्रियों पर न ही उनके वादों पर विश्वास करे। इस स्पष्टोक्ति के बावजूद वह पूर्णतया आसक्त बन गया जिससे उसे महान् मानसिक क्लेश झेलना पड़ा।

किमेतया नोऽपकृतं रज्ज्वा वा सर्पचेतसः ।

द्रष्टुः स्वरूपाविदुषो योऽहं यदजितेन्द्रियः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; एतया—उसके द्वारा; नः—हमको; अपकृतम्—अपराध हुआ; रज्ज्वा—रस्सी द्वारा; वा—अथवा; सर्प-चेतसः—सर्प मानते हुए; द्रष्टुः—ऐसे दर्शन का; स्वरूप—असली पहचान; अविदुषः—न समझने वाला; यः—जो; अहम्—मैं; यत्—क्योंकि; अजित-इन्द्रियः—इन्द्रियों पर वश न पा सकने वाला।

भला मैं अपने कष्ट के लिए उसे कैसे दोष दे सकता हूँ जबकि मैं स्वयं अपने असली आध्यात्मिक स्वभाव से अपरिचित हूँ? मैं अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाया, इसीलिए मैं उस व्यक्ति की तरह हूँ जो निर्दोष रस्सी को भ्रमवश सर्प समझ बैठता है।

तात्पर्य : जब कोई व्यक्ति रस्सी को सर्प समझ बैठता है, तो वह भयभीत तथा चिन्तित रहता है। निस्सन्देह, ऐसा भय तथा चिन्ता मोह है क्योंकि रस्सी कभी काट नहीं सकती। इसी तरह जो व्यक्ति भ्रमवश यह सोचता है कि भगवान् की भौतिक मोहमयी शक्ति उसकी इन्द्रियतृप्ति के लिए है, वह अपने सिर पर भौतिक मोहमय भय तथा चिन्ता की बला मोल लेगा। राजा पुरुरवा स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि तरुणी उर्वशी को दोष नहीं देना चाहिए। वह तो पुरुरवा था जिसने भ्रमवश उसे निजी भोग की वस्तु समझ रखा था, इसीलिए वह प्रकृति के नियमों के अनुसार कष्ट भोग रहा था। पुरुरवा स्वयं ही उर्वशी के बाह्य स्वरूप का लाभ उठाने का अपराधी था।

क्वायं मलीमसः कायो दौर्गन्ध्याद्यात्मकोऽशुचिः ।

क्व गुणाः सौमनस्याद्या ह्यध्यासोऽविद्यया कृतः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

क्व—कहाँ; अयम्—यह; मलीमसः—अत्यन्त गन्दा; कायः—शरीर; दौर्गन्ध्य—दुर्गन्ध; आदि—इत्यादि; आत्मकः—से युक्त; अशुचिः—अस्वच्छ; क्व—कहाँ; गुणाः—तथाकथित सद्गुण; सौमनस्य—फूलों की सुगन्धि तथा कोमलता; आद्याः—इत्यादि; हि—निश्चय ही; अध्यासः—ऊपर से थोपे गये; अविद्यया—अज्ञान से; कृतः—उत्पन्न।

आखिर यह दूषित शरीर है क्या—इतना गन्दा तथा दुर्गन्ध से भरा हुआ? मैं एक स्त्री के शरीर की सुगन्धि तथा सुन्दरता से आकृष्ट हुआ था किन्तु आखिर वे आकर्षक स्वरूप है क्या? वे माया ( मोह ) द्वारा उत्पन्न छद्म आवरण ही तो है!

तात्पर्य : अब पुरुरवा की समझ में आया कि यद्यपि वह उर्वशी के सुगंधित सुन्दर शरीर के पीछे दीवाना था, किन्तु वह शरीर तो मल, वायु, कफ, रोम आदि अरुचिकर वस्तुओं का झोला था। दूसरे शब्दों में, पुरुरवा अब विवेकी बन रहा है।

पित्रोः किं स्वं नु भार्यायाः स्वामिनोऽग्नेः श्वगृधयोः ।

किमात्मनः किं सुहृदामिति यो नावसीयते ॥ १९ ॥

तस्मिन्कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विषज्जते ।

अहो सुभद्रं सुनसं सुस्मितं च मुखं स्त्रियः ॥ २० ॥

#### शब्दार्थ

पित्रोः—माता-पिता के; किम्—क्या; स्वम्—सम्पत्ति; नु—अथवा; भार्यायाः—पत्नी का; स्वामिनः—मालिक का; अग्नेः—अग्नि का; श्व-गृधयोः—कुत्तों तथा सियारों का; किम्—क्या; आत्मनः—आत्मा का; किम्—क्या; सुहृदम्—मित्रों का; इति—इस प्रकार; यः—जो; न अवसीयते—निश्चित नहीं कर सकता; तस्मिन्—उस; कलेवरे—शरीर में; अमेध्ये—गर्हित; तुच्छ-निष्ठे—अधम स्थान की ओर बढ़ते हुए; विषज्जते—अनुरक्त हो जाता है; अहो—ओह; सु-भद्रम्—अत्यन्त आकर्षक; सु-नसम्—सुन्दर नाक वाली; सु-स्मितम्—सुन्दर हँसी; च—तथा; मुखम्—मुख; स्त्रियः—स्त्री का।

कोई यह निश्चित नहीं कर सकता है कि शरीर वास्तव में किसकी सम्पत्ति है। क्या यह उस माता-पिता की है, जिसने उसे जन्म दिया है, अथवा इसे सुख देने वाली पत्नी की है या इसके मालिक की है, जो शरीर को हुक्म देता रहता है? अथवा यह चिता की अग्नि की अथवा उन कुत्ते तथा सियारों की है, जो अन्ततोगत्वा इसका भक्षण करेंगे? क्या यह उस अन्तस्थ आत्मा की सम्पत्ति है, जो इसके सुख-दुख में साथ देता है अथवा यह शरीर उन घनिष्ठ मित्रों का है, जो इसको प्रोत्साहित करते तथा इसकी सहायता करते हैं? यद्यपि मनुष्य कभी भी शरीर के स्वामी को निश्चित नहीं कर पाता, किन्तु वह इससे अनुरक्त रहता है। यह भौतिक शरीर उस दूषित पदार्थ के समान है, जो निम्न स्थान की ओर बढ़ रहा है; फिर भी जब मनुष्य किसी स्त्री के मुख की ओर टकटकी लगाता है, तो सोचता है, “कितनी सुन्दर है यह स्त्री? कैसी सुघड़ नाक है इसकी और जरा इसकी सुन्दर हँसी को तो देखो।”

तात्पर्य : तुच्छ-निष्ठे शब्द सूचित करता है कि जमीन में दफनाने पर इस शरीर को कीड़े खा जायेंगे; यदि इसे जलाया गया तो यह राख हो जायगा और यदि किसी एकान्त स्थान में मरे, तो इसे कुत्ते तथा गीधें खा जायेंगी। माया की मोहमयी शक्ति स्त्रीरूप के भीतर प्रवेश करके मनुष्य के मस्तिष्क को मोहती है। मनुष्य स्त्रीरूप के अन्दर से प्रकट हो रही इस माया के प्रति आकृष्ट होता है, किन्तु जब

वह स्त्री के शरीर का आलिंगन करता है, तो उसे दो मुट्टी-भर मल, रक्त, कफ, पित्त, चमड़ी, हड्डी, केश तथा मांस मिलते हैं। मनुष्यों को दैहिक चेतना के अज्ञान में कुत्तों-बिल्लियों जैसा नहीं बन जाना चाहिए। मनुष्य को कृष्णभावनामृत से प्रबुद्ध होकर भगवान् की शक्तियों का अनुचित लाभ उठाने का प्रयास किए बिना, भगवान् की सेवा करनी सीखनी चाहिए।

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ ।

विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

त्वक्—चमड़ी से; मांस—मांस; रुधिर—खून; स्नायु—पेशी; मेदः—चर्बी; मज्जा—मज्जा; अस्थि—तथा हड्डी; संहतौ—बना हुआ; विट्—मल; मूत्र—मूत्र; पूये—तथा पीब का; रमताम्—रमण करता हुआ; कृमीणाम्—कीड़े-मकोड़ों के तुल्य; कियत्—कितना; अन्तरम्—अन्तर।

सामान्य कीड़ों-मकोड़ों तथा उन व्यक्तियों में अन्तर ही क्या है, जो चमड़ी, मांस, रक्त, पेशी, चर्बी, मज्जा, हड्डी, मल, मूत्र तथा पीब से बने इस भौतिक शरीर का भोग करना चाहते हैं?

अथापि नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित् ।

विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अथ अपि—इतने पर भी; न उपसज्जेत—सम्पर्क रखे; स्त्रीषु—स्त्रियों से; स्त्रैणेषु—स्त्रियों पर अनुरक्त व्यक्तियों से; च—अथवा; अर्थ-वित्—अपना हित जानने वाला; विषय—भोग की वस्तु के; इन्द्रिय—इन्द्रियों के; संयोगात्—सम्बन्ध से; मनः—मन; क्षुभ्यति—क्षुब्ध होता है; न—नहीं; अन्यथा—अन्यथा।

सिद्धान्त रूप में शरीर की वास्तविक प्रकृति को जानने पर भी व्यक्ति को कभी भी स्त्रियों या स्त्रियों में लिप्त रहने वाले पुरुषों की संगति नहीं करनी चाहिए। आखिर, इन्द्रियों का उनके विषयों से सम्पर्क अनिवार्य रूप से मन को विचलित कर देता है।

अदृष्टादश्रुताद्भावान्न भाव उपजायते ।

असम्प्रयुञ्जतः प्राणान्शाम्यति स्तिमितं मनः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अदृष्टात्—अनदेखा; अश्रुतात्—अनसुना; भावात्—वस्तु से; न—नहीं; भावः—मानसिक क्षोभ; उपजायते—उत्पन्न होते हैं; असम्प्रयुञ्जतः—उसके लिए जो प्रयोग में नहीं ला रहा; प्राणान्—इन्द्रियों को; शाम्यति—शान्त हो जाता है; स्तिमितम्—नियंत्रित; मनः—मन।

चूँकि मन ऐसी वस्तु से क्षुब्ध नहीं होता जो न तो देखी गई हो, न सुनी गई हो, इसलिए ऐसे

व्यक्ति का मन, जो अपनी इन्द्रियों को रोकता है, स्वतः अपने भौतिक कर्मों को करने से रोक दिया जायेगा और शान्त हो जायेगा।

तात्पर्य : ऐसा तर्क दिया जा सकता है कि आँख मूँदने, स्वप्न देखने या एकान्त स्थान में रहने से मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के विषय में स्मरण या चिन्तन कर सकता है। किन्तु ऐसा अनुभव विगत इन्द्रियतृप्ति के कारण होता है, जिसे वह बारम्बार देखता तथा सुनता था। जब मनुष्य इन विषयों से अपनी इन्द्रियों को रोकता है, विशेष रूप से स्त्रियों के घनिष्ठ सम्पर्क से, तो मन की भौतिक लालसा शिथिल पड़ जायेगी और अन्त में समाप्त हो जायेगी जिस तरह अग्नि बिना ईंधन के शान्त पड़ जाती है।

तस्मात्सङ्गो न कर्तव्यः स्त्रीषु स्त्रैणेषु चेन्द्रियैः ।

विदुषां चाप्यविस्त्रब्धः षड्वर्गः किमु मादृशाम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; सङ्गः—संगति; न कर्तव्यः—नहीं करे; स्त्रीषु—स्त्रियों की; स्त्रैणेषु—स्त्रियों पर अनुरक्त रहने वाले पुरुषों की; च—तथा; इन्द्रियैः—इन्द्रियों से; विदुषाम्—बुद्धिमान व्यक्तियों का; च अपि—भी; अविस्त्रब्धः—अविश्वसनीय; षट्-वर्गः—मन के छः शत्रु ( काम, क्रोध, लोभ, मोह, नशा तथा ईर्ष्या ); किम् उ—क्या कहा जाय; मादृशाम्—मुझ जैसे व्यक्तियों का।

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी इन्द्रियों को स्त्रियों की या स्त्रियों के प्रति आसक्त पुरुषों की खुल कर संगति न करने दे। यहाँ तक कि जो अत्यधिक विद्वान हैं वे मन के छह शत्रुओं पर विश्वास नहीं कर सकते, तो फिर मुझ जैसे मूर्ख व्यक्तियों के बारे में क्या कहा जाय?

श्रीभगवानुवाच

एवं प्रगायन्नृपदेवदेवः

स उर्वशीलोकमथो विहाय ।

आत्मानमात्मन्यवगम्य मां वै

उपारमञ्जाअनविधूतमोहः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; एवम्—इस तरह; प्रगायन्—गाते हुए; नृप—मनुष्यों; देव—तथा देवताओं में; देवः—जो प्रसिद्ध था; सः—वह, राजा पुरुरवा; उर्वशी-लोकम्—उर्वशी का लोक, गन्धर्व लोक; अथ उ—तब; विहाय—छोड़ कर; आत्मानम्—परमात्मा; आत्मनि—अपने हृदय में; अवगम्य—अनुभव करके; माम्—मुझको; वै—निस्सन्देह; उपारमत्—शान्त हो गया; ज्ञान—दिव्य ज्ञान से; विधूत—हटा दिया; मोहः—मोह।

भगवान् ने कहा : इस प्रकार यह गीत गाकर देवताओं तथा मनुष्यों में विख्यात महाराज पुरुरवा ने वह पद त्याग दिया जिसे उसने उर्वशी लोक में प्राप्त कर लिया था। दिव्य ज्ञान से

उसका मोह हट गया; उसने अपने हृदय में मुझे परमात्मा रूप में समझ लिया जिससे अन्त में उसे शान्ति मिल गई।

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् ।  
सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

ततः—इसलिए; दुःसङ्गम्—बुरी संगति; उत्सृज्य—फेंक कर; सत्सु—सन्त भक्तों को; सज्जेत—लिप्त हो जाता है; बुद्धि-मन्—बुद्धिमान; सन्तः—सन्त पुरुष; एव—एकमात्र; अस्य—उसका; छिन्दन्ति—काट देते हैं; मनः—मन का; व्यासङ्गम्—अत्यधिक आसक्ति; उक्तिभिः—उनके शब्दों से।

इसलिए बुद्धिमान मनुष्य को सारी कुसंगति त्याग देनी चाहिए और सन्त भक्तों की संगति ग्रहण करनी चाहिए जिनके शब्दों से मन का अति-अनुराग समाप्त हो जाता है।

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः ।  
निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

सन्तः—सन्त भक्त; अनपेक्षाः—किसी भौतिक वस्तु पर आश्रित न रह कर; मत्-चित्ताः—जिन्होंने मुझ पर अपना मन स्थिर कर रखा है; प्रशान्ताः—पूर्णतया शान्त; सम-दर्शिनः—समान दृष्टि से युक्त; निर्ममाः—ममत्व से रहित; निरहङ्काराः—मिथ्या अहंकार से मुक्त; निर्द्वन्द्वाः—समस्त द्वैतों से मुक्त; निष्परिग्रहाः—लोभ से मुक्त।

मेरे भक्त अपने मनों को मुझ पर स्थिर करते हैं और किसी भी भौतिक वस्तु पर निर्भर नहीं रहते। वे सदैव शान्त, समदृष्टि से युक्त तथा ममत्व, अहंकार, द्वन्द्व तथा लोभ से रहित होते हैं।

तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः ।  
सम्भवन्ति हि ता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तेषु—उनमें से; नित्यम्—निरन्तर; महा-भाग—हे भाग्यवान् उद्धव; महा-भागेषु—भाग्यशाली भक्तों में से; मत्-कथाः—मेरी कथाएँ; सम्भवन्ति—उत्पन्न होती हैं; हि—निस्सन्देह; ताः—वे कथाएँ; नृणाम्—मनुष्योंकी; जुषताम्—उनमें भाग लेने वाले; प्रपुनन्ति—पूरी तरह शुद्ध करते हैं; अघम्—पापों को।

हे महाभागा उद्धव, ऐसे सन्त भक्तों की संगति में सदा मेरी चर्चा चलती रहती है और जो लोग मेरी महिमा के इस कीर्तन तथा श्रवण में भाग लेते हैं, वे निश्चित रूप से सारे पापों से शुद्ध हो जाते हैं।

तात्पर्य : यदि कोई व्यक्ति शुद्ध भक्त से सीधे शिक्षाएँ ग्रहण नहीं कर पाता, तो भगवान् का महिमा-गान करते हुए उस मनुष्य से केवल सुनने से ही, वह मोह में पड़ने वाले पापों से शुद्ध हो जाता

है ।

ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चाहताः ।

मत्पराः श्रद्धधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ताः—वे कथाएँ; ये—जो व्यक्ति; शृण्वन्ति—सुनते हैं; गायन्ति—कीर्तन करते हैं; हि—निस्सन्देह; अनुमोदन्ति—आत्मसात करते हैं; च—तथा; आहताः—आदरपूर्वक; मत्-पराः—मेरे परायण; श्रद्धधानाः—श्रद्धालु; च—तथा; भक्तिम्—भक्ति; विन्दन्ति—प्राप्त करते हैं; ते—वे; मयि—मेरे लिए ।

जो कोई मेरी इन कथाओं को सुनता है, कीर्तन करता है और आदरपूर्वक आत्मसात करता है, वह श्रद्धापूर्वक मेरे परायण हो जाता है और इस तरह मेरी भक्ति प्राप्त करता है ।

तात्पर्य : जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण के बड़े-चढ़े भक्तों से श्रवण करता है, वह भवसागर से अपने को बचा सकता है । जब वह प्रामाणिक गुरु के आदेशों का पालन करता है, तो इससे मन की दूषित क्रियाओं पर रोक लगती है और वह वस्तुओं को नवीन आध्यात्मिक प्रकाश में देखता है । तब भगवान् की निस्वार्थ प्रेमाभक्ति की लालसा जगती है, जिससे भगवद्प्रेम का फल प्राप्त होता है ।

भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते ।

मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

भक्तिम्—भगवान् की भक्ति; लब्धवतः—प्राप्त कर लेने वाले; साधोः—भक्त के लिए; किम्—क्या; अन्यत्—अन्य कुछ; अवशिष्यते—शेष रह जाता है; मयि—मुझमें; अनन्त-गुणे—अनन्त गुणों वाला; ब्रह्मणि—परब्रह्म में; आनन्द—आनन्द का; अनुभव—अनुभव; आत्मनि—से युक्त ।

पूर्ण भक्त के लिए मुझ परब्रह्म की भक्ति प्राप्त कर लेने के बाद, करने के लिए बचता ही क्या है? परब्रह्म के गुण असंख्य हैं और मैं साक्षात् आनन्दमय अनुभव हूँ ।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण की भक्ति इतनी मनोहारी है कि शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहता । श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में भगवान् कृष्ण ने गोपियों से कहा है कि उन्हें अपनी सेवा को ही उनकी भक्ति का फल स्वीकार करना होगा क्योंकि और किसी वस्तु से उतना सुख तथा ज्ञान प्राप्त नहीं होता जितना कि भक्ति से । जब कोई व्यक्ति भगवान् कृष्ण के नामों का कीर्तन एवं श्रवण श्रद्धा से करता है, तो उसका हृदय शुद्ध हो जाता है और वह भगवान् कृष्ण की भक्ति, कृष्णभावनामृत के आनन्दमय स्वभाव, को धीरे धीरे समझ सकता है ।

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् ।  
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून्संसेवतस्तथा ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; उपश्रयमाणस्य—पास आने वाले का; भगवन्तम्—शक्तिमान; विभावसुम्—अग्नि; शीतम्—शीत; भयम्—डर; तमः—अंधकार; अप्येति—हट जाते हैं; साधून्—साधु भक्त; संसेवतः—सेवा में लगे रहने वाले के लिए; तथा—उसी प्रकार ।

जो व्यक्ति यज्ञ-अग्नि के पास पहुँच चुका हो, उसके लिए जिस तरह शीत, भय तथा अंधकार दूर हो जाते हैं, उसी तरह जो व्यक्ति भगवान् के भक्तों की सेवा में लगा रहता है उसका आलस्य, भय तथा अज्ञान दूर हो जाता है ।

तात्पर्य : सकाम कर्मों में लगे रहने वाले लोग मन्द हैं; उन्हें भगवान् तथा आत्मा के विषय में उच्चतर जागरूकता का अभाव रहता है । भौतिकतावादी लोग मानो यंत्रवत् अपनी इन्द्रियों तथा इच्छाओं की तृप्ति में लगे रहते हैं, इसलिए उन्हें मन्द अथवा लगभग अचेत माना जाता है । जब वह भगवान् के चरणकमलों की सेवा करता है, तो ऐसा सारा आलस्य, भय तथा अज्ञान जाता रहता है, जिस तरह अग्नि के पास जाने पर शीत, भय तथा अँधेरा दूर हो जाता है ।

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायणम् ।  
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

निमज्ज्य—डूबने वालों का; उन्मज्जताम्—तथा फिर से ऊपर उठने वालों का; घोरे—घोर, कठिन; भव—सांसारिक जीवन के; अब्धौ—सागर में; परम—परम; अयनम्—शरण; सन्तः—सन्त भक्तगण; ब्रह्म-विदः—परब्रह्म को समझने वाले; शान्ताः—शान्त; नौः—नाव; दृढा—मजबूत; इव—जिस तरह; अप्सु—जल में; मज्जताम्—डूबने वालों को ।

भगवान् के भक्त, जो कि परम ज्ञान को शान्त भाव से प्राप्त हैं, उन लोगों के लिए चरम शरण हैं, जो भौतिक जीवन के भयावने सागर में बारम्बार डूबते तथा उठते हैं। ऐसे भक्त उस मजबूत नाव के सदृश होते हैं, तो डूब रहे व्यक्तियों की रक्षा करती है ।

अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम् ।  
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वागिबभ्यतोऽरणम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अन्नम्—भोजन; हि—निस्सन्देह; प्राणिनाम्—जीवों का; प्राणः—प्राण; आर्तानाम्—दुखियों का; शरणम्—आश्रय; तु—  
तथा; अहम्—मैं; धर्मः—धर्म; वित्तम्—सम्पत्ति; नृणाम्—मनुष्यों का; प्रेत्य—मरने के बाद; सन्तः—भक्तगण; अर्वाक्—नीचे  
जाने वालों का; बिभ्यतः—डरने वालों के लिए; अरणम्—शरण।

जिस तरह समस्त प्राणियों के लिए भोजन ही जीवन है, जिस तरह मैं दुखियारों का परम  
आश्रय हूँ तथा जिस तरह इस लोक से मर कर जाने वालों के लिए धर्म ही सम्पत्ति है, उसी तरह  
मेरे भक्त उन लोगों के एकमात्र आश्रय हैं, जो जीवन की दुखमय अवस्था में पड़ने से डरते रहते  
हैं।

तात्पर्य : जो लोग भौतिक विषय-वासना तथा क्रोध के चंगुल में आने से डरते हैं, उन्हें  
भगवद्भक्तों के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए। ये भक्त मनुष्यों को आराम से भगवान् की  
प्रेमाभक्ति में लगा सकते हैं।

सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः ।

देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

सन्तः—भक्तगण; दिशन्ति—प्रदान करते हैं; चक्षूंषि—आँखें; बहिः—बाहरी; अर्कः—सूर्य; समुत्थितः—पूरी तरह उदय हुआ;  
देवताः—पूज्य देव; बान्धवाः—सम्बन्धीजन; सन्तः—भक्तगण; सन्तः—भक्तगण; आत्मा—आत्मा; अहम्—मैं; एव च—भी।

मेरे भक्तगण दैवी आँखें प्रदान करते हैं जबकि सूर्य केवल बाह्य दृष्टि प्रदान करता है और  
वह भी तब जब वह आकाश में उदय हुआ रहता है। मेरे भक्तगण ही मनुष्य के पूज्य देव तथा  
असली परिवार हैं; वे स्वयं ही आत्मा हैं और वे मुझसे अभिन्न हैं।

तात्पर्य : मूर्खता उन अपवित्र लोगों की सम्पत्ति होती है, जो अपने धन को अत्यधिक महत्त्व  
प्रदान करते हैं और अज्ञान के अंधकार में रहने के लिए दृढ़-संकल्प रहते हैं। भगवान् के सन्त भक्तगण  
सूर्य के समान हैं। उनके शब्दों के प्रकाश से जीवों के ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं और अज्ञान का अंधकार  
नष्ट हो जाता है। इस तरह सन्त भक्त मनुष्यों के असली मित्र तथा सम्बन्धी होते हैं। वे ही सेवा के  
असली पात्र हैं, स्थूल शरीर नहीं जो एकमात्र इन्द्रियतृप्ति के लिए मचलता रहता है।

वैतसेनस्ततोऽप्येवमुर्वश्या लोकनिष्पृहः ।

मुक्तसङ्गो महीमेतामात्मारामश्चचार ह ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ



वैतसेनः—राजा पुरुरवा; ततः अपि—इसी कारण से; एवम्—इस प्रकार; उर्वश्याः—उर्वशी का; लोक—उसी लोक में होने;  
निष्पृहः—इच्छा से रहित; मुक्त—मुक्त; सङ्गः—सारी भौतिक संगति से; महीम्—पृथ्वी; एताम्—इस; आत्म-आरामः—  
आत्मतुष्ट; चचार—विचरण करने लगा; ह—निस्सन्देह।

इस तरह उर्वशी के लोक में रहने की अपनी इच्छा त्याग कर महाराज पुरुरवा समस्त भौतिक संगति से मुक्त होकर तथा अपने भीतर पूरी तरह तुष्ट होकर पृथ्वी पर विचरण करने लगे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत 'ऐल-गीत' नामक छब्बीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।